पूज्य लालचंदभाई के प्रवचनों
श्री समयसार, गाथा ३१
ता: १-४-१९९० सुबह, अहमदाबाद
प्रवचन LA248

यह श्री समयसार जी परमागम शास्त्र है, उसका प्रथम जीव नामक अधिकार (है) अथवा पूर्वरंग अधिकार पहला है। उसमें जीवतत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है वह बतानेवाला अधिकार है। उसमें अनंत-अनंतकाल से आत्मा, तीर्थंकर भगवान की देह को देखकर स्तुति करता है, आचार्य, उपाध्याय, साधु जी की भी उनकी देह पर लक्ष्य रखकर उनकी स्तुति, वंदना, पूजन करता है। इस तरह अनंतकाल से इसप्रकार का व्यवहार अज्ञानी जीवों का चल रहा है। देह को ही तीर्थंकर जानकर स्तुति करते हैं, आचार्य भगवान जो शुद्धोपयोगी हैं, उनकी आत्मा की तो खबर नहीं है, उनकी आत्मा देह से भिन्न है- यह तो वह जानता नहीं है। क्योंकि अपनी देह से अपनी आत्मा को भिन्न जाना नहीं है इसलिए दूसरों की आत्मा भी उनकी देह से भिन्न है, वह जानने में आता (नहीं)।

यहाँ पर भिन्न जाने तो वहाँ भिन्न जानने में आये। यहाँ तो उसे भिन्नता हुई नहीं है। यहाँ पर तो देहादि को अपनी आत्मा ही मानता है, वह ही जीव है ऐसा मानता है। इसलिए सामने भी, उसने यहाँ जीवपने की स्थापना की है। आत्मा की स्थापना इस देह में की है तो वहाँ भी वह देह में आत्मा को स्थापित करके पूजा करता है। वह करता है पूजा, भक्ति, वंदना। यदि कषाय की मंदता हो, तो मिथ्यात्व के साथ शुभभाव होता है। क्या कहा? मिथ्यात्व के परिणाम के साथ कषाय की मंदता हो, तो शुभभाव होता है लेकिन मिथ्यात्व नहीं जाता। तब तक उसे अनुभव नहीं होता। अनुभव के बिना मोक्षमार्ग तीनकाल में प्रगट होता नहीं।

अब २६, २७, २८, २९, ३० गाथा तक चर्चा चली, शिष्य ने बहुत दलीलें की और उसके उत्तर में ३१वीं गाथा कहते हैं। कि भाई! देह की स्तुति करने से भगवान की स्तुति नहीं हो सकती। क्योंकि देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। इसलिए वास्तव में जो तीर्थंकर भगवान की स्तुति करनी हो, केवली की तुझे स्तुति करनी हो तो प्रथम देह से और इन्द्रियज्ञान से भिन्न तेरा आत्मा है, उसका पहले तू अनुभव कर। तो वह आत्मा का अनुभव है, वह ही केवली की निश्चय स्तुति हो गई। स्वयं के आत्मा का जो अनुभव करता है उसे ही यहाँ केवली और तीर्थंकर की स्तुति की- ऐसा कहने में आता है। क्योंकि यह आत्मा है वह स्वयं पंचपरमेष्ठी पद में समाया हुआ है इसमें। यह ही केवली है, यह ही मुनि है, यह ही साधु है।

आत्मा में ही पाँच पद समाये हुये हैं। इसलिए पहले तो तू तेरी आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव कर। तो उसे हम निश्चय स्तुति की (ऐसा) कहते हैं। वहाँ से संवर की शुरूआत होती है। जब तक इन्द्रियज्ञान द्वारा तू पर की देह को जानकर स्तुति कर रहा है, वह तो मिथ्यात्व के साथ थोड़ी कषाय की मंदता- शुभभाव होता है तो उतने समय शुभभाव कहलाता है, लेकिन मिथ्यात्व के साथ रहा हुआ

जो शुभभाव है उसकी कोड़ी की भी कीमत नहीं है।

अब यहाँ स्तुति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि ज्ञेय और ज्ञायक दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञेय भिन्न है और ज्ञायक आत्मा भिन्न है। दो पदार्थ हैं जगत में, ज्ञेय भी हैं और ज्ञायक भी है। कोई ज्ञेय को उड़ाये तो वह गलत है और ज्ञेय को ज्ञायक में मिलाता है, तो भी गलत है। ज्ञायक भिन्न है और ज्ञेय भिन्न है। ज्ञायक और ज्ञेय भिन्न हैं इसलिए ज्ञायक को जाननेवाला जो ज्ञान, वह भी ज्ञेयों से भिन्न है। ज्ञायक ज्ञेयों से भिन्न है, ज्ञेयों के तीन प्रकार कल कहे कि एक तो द्रव्य इन्द्रिय वह पर ज्ञेय है। यह द्रव्येन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय वगैरह। और दूसरी भावेन्द्रिय, खंडज्ञान समय-समय पर जो क्षयोपशम भावेन्द्रिय का उघाड़ है ना, पर को जानने का, उससे भी आत्मा भिन्न है, भिन्न है इसलिये ज्ञेय है। और उनके जो विषय हैं, भावेन्द्रिय के विषय वे भी ज्ञेय हैं। इस प्रकार ज्ञेय के तीन प्रकार कल बताये थे।

उन तीन प्रकारो में पहले द्रव्येन्द्रिय को जीतने का बोध दिया। कि द्रव्येन्द्रिय है वह पुद्गल की रचना है, शरीर का एक स्पेयरपार्ट है। यह है ना, वह शरीर का एक भाग है। शरीर परिणाम को प्राप्त ऐसी द्रव्येन्द्रिय, वह द्रव्येन्द्रिय ज्ञान का निमित्त नहीं है। वह द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय का निमित्त है अथवा वह कर्म चेतना का निमित्त है अथवा वह अज्ञान का निमित्त है। जो नैमित्तिकभाव (हैं) उनका निमित्त है, उस स्वभावभाव का यह निमित्त नहीं। ओहो! हो जाता है। यह वस्तु समझने जैसी यह है। अनंतकाल से इसने आत्मा के स्वरूप को समझा नहीं। पर से भिन्न होने पर भी पर और स्व दोनों की एकत्वबुद्धि है, भेदज्ञान की शक्ति कुंठित हो गई है जिसकी, भिन्न विभाग करने की शक्ति कुंठित हो गई है इसलिए द्रव्येन्द्रिय से आत्मा भिन्न है (ऐसी भिन्नता भासित नहीं होती)। उसके लिए करुणा करके कैसे भिन्न करना? (उसका उपाय कहा)

कि **'जो अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यभाव',** प्रगट है, है, है और है। किसी को ऐसा लगे कि यदि हो तो क्यों दिखता नहीं है? ऐसा श्रीमद्जी में भी एक प्रश्न-उत्तर किया है कि यदि हो, तो सभी को दिखना चाहिये। जैसे घट-पट दिखते हैं ऐसे आत्मा दिखना चाहिये। तू देखता नहीं है इसलिए दिखता नहीं। तेरे ज्ञान में तो जानने में आ रहा है। समय-समय पर भगवान आत्मा, लेकिन तुझे शास्त्र के ऊपर भी विश्वास नहीं है। आहाहा! वैसे तो देव, गुरु, शास्त्र के पैर पड़ता है। भगवान का इस प्रकार समयसार विराजमान होता है तो पैर पड़ता है। लेकिन उसमें जो लिखा है वही सच्चा है ऐसा मानता नहीं। वह भूल होती है।

कहते हैं कि उन द्रव्येन्द्रियों को कैसे जीतना कि **अंतरंग में,** अंदर में **प्रगट** आत्मा है, है और है। प्रगट है, वह जीव तत्त्व है और प्रगट 'होते' हैं, वे नवतत्त्व हैं। नवतत्त्व प्रगट होते हैं भले क्रम-क्रम से। लेकिन वे प्रगट होते हैं, वह उनका स्वभाव, नवतत्त्वों का, और जीव प्रगट है, वह उसका स्वभाव है। जीव प्रगट नहीं होता। पर्याय तो नहीं होती धर्म की, बाद में प्रगट होती है, मोक्ष नहीं है तो बाद में प्रगट होता है। लेकिन प्रगट होता है वह जीवतत्त्व नहीं है। जो प्रगट होता है वह कोई संवरतत्त्व, कोई निर्जरा और कोई मोक्षतत्त्व है। प्रगट होता है, वह जीव नहीं। जीव के परिणाम कहो लेकिन वह जीव नहीं है। जीव का उनमें लक्षण नहीं है। मोक्ष की पर्याय में जीव का लक्षण नहीं है।

मोक्ष तो हमें करना है, मोक्ष तो हमें चाहिए। और वह जीव नहीं है? कि नहीं, वह जीव नहीं है।

जीव उससे भिन्न है। जीव का लक्षण तो परमपारिणामिक स्वभाव है। उससे जीव तन्मय है और मोक्ष की पर्याय तो क्षायिकभाव से तन्मय है। उसमें परमपारिणामिकभाव का अभाव है, एक। मोक्ष की पर्याय में - (वह) एक समय की पर्याय है, उसमें अनंतगुण नहीं हैं और भगवान आत्मा में तो अनंत गुण हैं। गुणी को हम जीव कहते हैं। गुण को गुण कहते हैं लेकिन गुण को जीव नहीं कहते। दोष को दोष, गुण को गुण और गुणी को (गुणी)। जो रागादि भाव प्रगट होता है वह दोष है। संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होता है वह गुण है और भगवान आत्मा गुणी है। आहाहा! लेकिन हम उसे जीव कहते नहीं हैं। भगवान ने कहा नहीं। उन्होंने तो स्वांग कहा है। आहाहा!

तेरे रागादि पुण्य, पाप के परिणाम तो स्वांग हैं, हैं और हैं, तुझे वे स्वभाव लगते हैं। तेरी उसमें कर्ताबुद्धि पड़ी है। आहाहा! उसके लिए तो दिल्ली बहुत दूर है। लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि मोक्ष की पर्याय, उसमें जीव का लक्षण दिखता नहीं है। क्योंकि जीव अनादि-अनंत है। मोक्ष की पर्याय एक समय की, सादि-सांत, एक अपेक्षा से सादि-अनंत लेकिन दूसरी अपेक्षा से समयवर्ती है इसलिए सादि-सांत प्रगट होती है अर्थात् उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय वह हुआ ही करता है। आहाहा! उपजता और विनशता है वह मोक्ष, लेकिन भगवान आत्मा उत्पन्न भी नहीं होता और मरता भी नहीं है।

किसी संयोग से जिसकी उत्पत्ति नहीं है तो किसी वियोग से भी उसका नाश नहीं होता। ऐसा अंतरंग में प्रगट भगवान आत्मा, आहाहा! जैसे यह प्रतिमा अभी प्रगट है न? प्रतिमाजी प्रगट है। ऐसे यह चैतन्य प्रतिमा अंदर प्रगट है, चौबीसों घंटे, वह दर्शन देने का काम करता है लेकिन वह दर्शन लेता नहीं। ऐसे, ऐसे, ऐसे (बाहर में) नज़र करता है, ऐसा, ऐसा। आहाहा! **'अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म',** मोक्षतत्त्व सूक्ष्म है, अतिसूक्ष्म नहीं है, सर्वथा सूक्ष्म नहीं है। मोक्षतत्त्व कथंचित् सूक्ष्म है और जीवतत्त्व सर्वथा सूक्ष्म है।

बोलो ! नवतत्त्व का अभ्यास हो तो मज़ा आता है। आहाहा! **'अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलंबन के बल से',** जब भावेन्द्रिय ऐसे खंड-खंड द्रव्येन्द्रिय का अवलंबन लेता था, वह द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य छोड़कर अंदर में जाता है और भगवान आत्मा का अनुभव करता है, तब ये द्रव्येन्द्रियाँ मेरे से सर्वथा भिन्न हैं ऐसा ज्ञात होता है। जानने में आ जाता है, सर्वथा भिन्न। उन इन्द्रियों को निकालकर अलोक में भेजने की बात नहीं है। द्रव्येन्द्रिय को उनके स्थान में रहने दे तू। द्रव्येन्द्रिय आँख, कान, नाक, वे सब उनके स्थान में रहेंगे। लेकिन उनका जो लक्ष्य करके प्रवृति थी, उनका लक्ष्य छोड़ देता है और चेतन स्वभाव का अवलंबन लेने पर... द्रव्येन्द्रिय में आत्मबुद्धि थी, द्रव्येन्द्रिय को अपना मानता था। आँख मेरी है, कान मेरा है, आहाहा! कान तेरा नहीं है, आँख तेरी नहीं है, उसका स्वामी पुद्गल है। तू उसका धनी नहीं है। आहाहा! वे ज्ञान के निमित्त नहीं हैं, वे अज्ञान के निमित्त हैं, नैमित्तिक भाव के निमित्त हैं।

ज्ञान चेतना के निमित्त भी नहीं हैं। वे कर्म चेतना के निमित्त हैं। जैसे राग को कर्म चेतना कहते हैं ऐसे ही भावेन्द्रियां भी कर्मचेतना हैं। जैसे राग असद्भूतव्यवहारनय का विषय है ऐसे भावेन्द्रिय भी असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। द्रव्य संग्रह में लिया है यह। आहाहा! **'अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलंबन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया;'** ये सर्वथा भिन्न हैं ऐसा भान होता है। ये कान,

आँख और नाक मेरे भगवान आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, भिन्न हैं इन्द्रियां। ऐसा उसे अनुभव के काल में ज्ञान होता है। किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न या सर्वथा भिन्न? कि सर्वथा जैनमत में होता है? जैनमत में ही सर्वथा होता है।

क्योंकि सर्वथा अभिन्न मान रखा है उसके प्रतिपक्ष सर्वथा भिन्न कहें तब ही अनुभव होता है। न्याय समझ में आता है? आहाहा! देह और आत्मा को सर्वथा अभिन्न मानता है, इन्द्रिय और आत्मा को सर्वथा अभिन्न मानकर बैठा है। उसे कहते हैं कि सर्वथा भिन्न है वह। सर्वथा भिन्न है- ऐसा अनुभव में, ज्ञान में जानने में आता है। शास्त्र में है इतना मात्र नहीं। लेकिन जैसा शास्त्र में है ऐसा अनुभव होता है। जैसा शास्त्र में है, ऐसा यहाँ अनुभव होता है। द्रव्येन्द्रिय हो भले लेकिन ममता छूट गई है। द्रव्येन्द्रिय मेरी(ऐसा नहीं रहा), मेरापना छूट गया और द्रव्येन्द्रिय रह गई। मेरापना छूट गया और द्रव्येन्द्रिय तो उसके स्थान में है- पुद्गल, ज्ञेय है। आहाहा! उसे कहाँ टालना है हमें ? वह उसके स्थान में (और) मैं अपने स्थान में हूँ।

उस द्रव्येन्द्रिय को सर्वथा अपने से भिन्न करके। सर्वथा... तीनों में सर्वथा आयेगा, हों! आहाहा! तीनों में सर्वथा आयेगा। क्योंकि जैनदर्शन तो स्याद्वादरूप है। भगवान आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है। सुन ! और आत्मज्ञान में स्याद्वाद का सद्भाव है। आत्मज्ञान होता है उसे स्याद्वाद होता है, मिथ्यादृष्टि को स्याद्वाद नहीं होता। आहाहा! अपने से भिन्न करके सर्वथा, द्रव्येन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय अर्थात् आँख, कान, नाक पुद्गल की रचना है वह। भावेन्द्रिय का निमित्त है वह। अज्ञान का निमित्त है वह। खंड ज्ञान का निमित्त है वह। आहाहा! ज्ञान का निमित्त नहीं है यह। इसके अवलंबन से ज्ञान प्रगट नहीं होता। वह तो आत्मा का अवलंबन ले, चैतन्य स्वभाव (का), तो ज्ञान प्रगट होता है। एक बात हो गई, अब दूसरी बात सूक्ष्म है। उससे ज़्यादा सूक्ष्म (बात) आती है। आहाहा!

जिसको पूरा जगत ज्ञान मान बैठा है। जिसको पूरा विश्व, हों! जैन-जैनेतर सब। जो क्षयोपशम ज्ञान का उघाड़ है न, आँखों से देखना, कान से सुनना, जीभ से चखना, यहाँ से (गाल से) स्पर्श करना ये सब जो ज्ञान होता है न? ज्ञान, वह ज्ञान होता है कि ज्ञेय होता है? उसका नाम ज्ञान है या उसका नाम ज्ञेय है? मोहराजा ने उसका नाम ज्ञान रखा है। शास्त्रज्ञान....शास्त्र का ज्ञान हुआ, शास्त्र का ज्ञान हुआ तो मोहराजा कहता है ज्ञान हुआ, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं ज्ञेय हुआ। ज्ञान प्रगट ही नहीं होता शास्त्र के लक्ष्य से। हाय, हाय! तो फिर देव, गुरु, शास्त्र की पूजा करते हैं न? कि भाई! उसका लक्ष्य छोड़कर जब आत्मा का भान होता है, तब शास्त्र को निमित्त कहने में आता है। वह भी भूत नैगमनय से निमित्त कहलाता है।

वर्तमान में भी जब तक शास्त्र का लक्ष्य है तब तक आत्मा का लक्ष्य नहीं होता। उसका लक्ष्य छोड़े, उपयोग अंदर में आये, तो अनुभव होता है, तो पूर्व में शास्त्र था, उसमें शास्त्र में ऐसा लिखा था कि भावेन्द्रिय से आत्मा भिन्न है- ऐसे भिन्न आत्मा को जाना, तब उसमें लिखा था उसीप्रकार से स्वयं परिणम गया तब उस शास्त्र को निमित्त कहने में आता है। आहाहा! निमित्त के लक्ष्य से- उसका नाम निमित्त नहीं है। निमित्त के लक्ष्य से- उसका नाम निमित्त नहीं है। निमित्त का लक्ष्य छूटे और अनुभव हो, तो पूर्वकाल में शास्त्र के ऊपर लक्ष्य था, उसमें लेख था, ३१ वीं गाथा में कि भावेन्द्रिय को जीतना।

उस भावेइन्द्रिय को जीता, तो उस शास्त्र को भी वंदन करता हूँ। द्रव्यश्रुत को मैं नमस्कार करता हूँ, द्रव्यश्रुत ने मेरे स्वरूप को बताया है। आहाहा!

' भिन्न-भिन्न', भावेन्द्रिय खंडज्ञान की बात चलती है। पाँच इन्द्रियों से जो ज्ञान में व्यापार चलता है न वह ज्ञान नहीं है किंतु ज्ञेय है। ज्ञेय- परज्ञेय है, वह हेयरूप ज्ञेय है। वह ज्ञेय प्रगट करने योग्य भी नहीं है। कि भाई! आश्रय करने के लिये तो कोई बात नहीं, लेकिन प्रगट करने योग्य तो है कि नहीं इन्द्रियज्ञान? प्रगट करने योग्य भी उपादेय नहीं है। आहाहा! यह प्रारंभिक बात है, हों ! शुरूआत। यह कोई ऊंची प्रकार की बात नहीं है। अनंतकाल से अज्ञान है। इन्द्रियज्ञान को ज्ञान माना है उसका नाम अज्ञान। अज्ञान किसका नाम है? अज्ञान के ऐसे सींग उगते होंगे ?

यह जो उघाड़ है और उस उघाड़ द्वारा ज्ञेय से ज्ञेयांतर, ज्ञेय से ज्ञेयांतर, जो खंड-खंडज्ञान ऐसे घूमरी खाता है, स्थिर होता नहीं है। ज्ञेय के आश्रय से ज्ञान सिद्ध होता ही नहीं। एक ज्ञेय को जानने की इच्छा होती है, वहाँ तृप्ति नहीं हुई तो तुरंत ज्ञेय बदलेगा। कौन बदलता है? ज्ञान ज्ञेय नहीं बदलता। इन्द्रियज्ञान ज्ञेय- ज्ञेय को बदलता है। इन्द्रियज्ञान स्वयं ज्ञेय है, उस ज्ञेय के संबंध से ज्ञान होता है उसका नाम ज्ञेय है, ज्ञान नहीं। ज्ञेय के संबंध से, ज्ञेय के संग से जो ज्ञान की प्रवृत्ति होती है उसे परमात्मा ज्ञेय का भाव कहते हैं। एक भावक का भाव और एक ज्ञेय का भाव, आहाहा!

भावक का भाव किसको कहते हैं? कि राग को भावक का भाव कहते हैं। राग है वह कर्म के लक्ष्य से होता है। इसलिए उसे भावक का भाव (कहते हैं), ज्ञायक का भाव नहीं है राग। भावक का भाव है, भावक अर्थात् द्रव्यकर्म। उसके संग से जो रागादि उत्पन्न होते हैं, जिसके संग से उत्पन्न हुए उसे भावक का भाव कहने में आता है, उससे आत्मा भिन्न है। उससे आत्मा भिन्न है। उससे भी ज़्यादा यहाँ तो सूक्ष्म कहना है। कि जो इन्द्रियज्ञान है वह ज्ञेय है और ज्ञेय के संग से वह ज्ञेय प्रगट होता है। ज्ञेय अर्थात् पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं वे ज्ञेय हैं, परज्ञेय हैं। उनको प्रसिद्ध करता है, जो ज्ञान उनको प्रसिद्ध करता है वह ज्ञेय का भाव है, वह ज्ञायक का भाव नहीं है। ज्ञायक की जाति उसमें नहीं है। ज्ञायक के उसमें लक्षण नहीं हैं।

जैसे राग आत्मा को प्रसिद्ध नहीं कर सकता, ऐसे इन्द्रियज्ञान द्वारा भी आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। आहाहा! अनुभव से धर्म की शुरूआत होती है, हों! दूसरे किसी क्रियाकांड से धर्म की शुरूआत नहीं होती। आहाहा! दुष्कर लगे, कठिन लगे, लेकिन हो क्या? गुरुदेव कहते थे कि समाज में भाग पड़ें तो भले पड़ जाएं लेकिन तू सत्य बात कहना। आहाहा! भले भाग पड़ जाएं एकबार, पड़ने देना, लेकिन तुझे जो, तुझे आत्मा का ज्ञान हुआ हो अथवा तुझे आत्मा का भान हुआ हो, तो जैसा आत्मा है, सर्वज्ञ भगवान ने कहा है वैसा ही कहना, आहाहा! दूसरों को दुःख लगेगा, बुरा लगेगा, तो "माफ करना" (इसप्रकार) माफी माँग लेना, दूसरा क्या हो आखिर ? कि भाई, तुझे अच्छी न लगे और कोई दुःख लगा हो तो मैं माफी माँगता हूँ। बाकी हमारे पास से और कुछ आशा मत रखना।

ब्रह्मचर्य का अधिकार चला एक बार, भावलिंगी संत ने (लिखा)। फिर ब्रह्मचर्य का अधिकार ऐसा कहा, ऐसा (स्पष्ट) वर्णन किया (कि उसे सुनकर) जवानों को लगा बुरा। बाद में अंत में कहा कि जवानों! तुम्हें कोई दुःख हुआ हो तो माफ करना, लेकिन हमारे से दूसरी कोई आशा रखना नहीं। हम

तो ब्रह्मचारी हैं। हम ब्रह्मचर्य की ही बात करेंगे। आहाहा! ऐसे ही सत्य का उपदेश देने पर किसी को दुःख लगे तो भले लगे लेकिन सत्य को छुपाने जैसा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि खंडज्ञान भावेन्द्रिय वह ज्ञेय का भाव है, ज्ञायक का भाव नहीं है। वे जीव के परिणाम नहीं हैं, (किंतु) ज्ञेय के परिणाम हैं। ज्ञायक की जाति उसमें नहीं है। ज्ञानचेतना नहीं है। उसके साथ आनंद नहीं हैं। उसके साथ आकुलता है। इन्द्रियज्ञान में लक्षण, आकुलता लक्षण है उसका। आहाहा! आकुलता लक्षण है इसलिए हेय है। आहाहा! ये पंडित बैठे हैं। अरे भाई! इन्द्रियज्ञान से जब तक भेदज्ञान नहीं करेगा तब तक अतीन्द्रियज्ञान प्रगट नहीं होगा। अतीन्द्रियज्ञान का घात करता है इन्द्रियज्ञान।

जिस प्रकार राग की उत्पत्ति होने पर वीतरागभाव का घात करता है, घातक। वीतरागभाव का घात करता है। उसी प्रकार इन्द्रियज्ञान जब तक प्रगट होता है तब तक अतीन्द्रियज्ञान प्रगट ही नहीं होता। अतीन्द्रियज्ञान प्रगट नहीं होता तब तक आत्मा का साक्षात्कार, अनुभव नहीं होता। आहाहा! **'भिन्न भिन्न अपने अपने विषयों में',** भावेन्द्रिय के पाँच प्रकार हैं न? स्पर्शेन्द्रिय का विषय अलग, चक्षुन्द्रिय का विषय अलग, कर्णेन्द्रिय का विषय अलग। ऐसे भिन्न भिन्न इन्द्रियां हैं पाँच, तो पाँच इन्द्रियों के विषय भी अलग हैं। आँख द्वारा स्पर्श का अनुभव नहीं होता, स्पर्श इन्द्रिय द्वारा कोई जानने में नहीं आता। प्रत्येक के विषय, पाँच इन्द्रियों के अलग अलग हैं। पाँच इन्द्रियाँ अलग हैं। उनके विषय भी अलग-अलग हैं।

'भिन्न भिन्न अपने-अपने विषयों में' अर्थात् कि ज्ञेयो में, विषयों अर्थात् ज्ञेयों में **'व्यापारभाव से'** व्यापार, एक लब्ध है और एक व्यापार है। इन्द्रियज्ञान के दो भेद पड़ते हैं। एक इन्द्रिय का व्यापार जब चलता हो तब चार इंद्रियाँ लब्धरूप होती हैं, व्यापाररूप नहीं होती। लब्ध होने पर भी उत्पाद-व्ययरूप हैं, कूटस्थ नहीं हैं। लेकिन पाँच इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय का जो व्यापार होता है, गुरुदेव की वाणी हम सुन रहे हों (कान से), (तो) जब सुनने का उपयोग है तब हम गुरुदेव को देखते नहीं हैं। भ्रांति होती है कि देखने और सुनने का काम एक समय में होता है। एक समय में काम नहीं होता। आहाहा!

क्रमिक है। इन्द्रियज्ञान क्रमिक है, अतीन्द्रियज्ञान अक्रम से जानता है। ऐसा लगता है हमें कि हम गुरुदेव को सुनते भी हैं और देखते भी हैं। नहीं, दो में से एक ही उपयोग होता है। जहाँ यह (कान का) उपयोग बंद होता है वहाँ यह (आँख का) उपयोग चालू होता है। यह (आँख का) उपयोग बंद होता है, वहाँ यह (कान का) उपयोग चालू होता है। इतनी शीघ्रता से, एक का उपयोग उपयोगात्मक, दूसरा लब्धरूप हो जाता है। वापस (जो) लब्धरूप है, वह उपयोगरूप हो जाता है। ऐसे क्रम-क्रम क्रम से इन्द्रियज्ञान उसका काम करता है।

जैसे **'अपने-अपने विषयों में'** अर्थात् ज्ञेयों में **'व्यापारभाव से जो'** अर्थात् भावेन्द्रिय खंडज्ञान-इन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान अलग और इन्द्रियज्ञान अलग है। आहाहा!**'व्यापारभाव से जो'** अर्थात् भावेन्द्रिय **'विषयों को'** अर्थात् ज्ञेयों को 'विषयों को' अर्थात ज्ञेयों को, ये सब ज्ञेय हैं भिन्न भिन्न, आहाहा! परज्ञेय हैं। उन विषयों को, ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में जानने योग्य पदार्थ, उन्हें ज्ञेय कहा जाता है, और जाननेवाले को ज्ञान कहते हैं। तो यहाँ भावेन्द्रिय जो खंडज्ञान है उसमें जो जानने की क्रिया परसन्मुख होती है, उसमें वह जानने में आता है। **'विषयों को खंडखंड ग्रहण करती हैं'** , ग्रहण करती हैं अर्थात्

पकड़ती हैं- ऐसा नहीं, जानती हैं।

खंडखंड ज्ञान, जैसे कि, उदाहरण के लिए:- मुझे अलमारी जानने में आती है, फिर मुझे पंखा जानने में आता है। तो अब वह जो ज्ञान है, ज्ञान तो अखंड है, उस अखंड को खंड बनाया उसने। जैसे पाँच इन्द्रियों के विषय क्रम-क्रम से ज्ञात होते हैं, उसमें ज्ञान खंड-खंड हो जाता है। ज्ञेय के संबंध से जो ज्ञान प्रगट होता है इन्द्रियज्ञान, वह सामान्यज्ञान को तिरोभूत कर डालता है। विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का आविर्भाव- अज्ञान बनाता है। शास्त्र के शब्द भले आयें लेकिन समझ में आये ऐसा है, न समझ में आये, ऐसा नहीं है।

ज्ञेयाकार ज्ञान क्या? और सामान्य ज्ञान क्या? जैसे कि यह पदार्थ है उसके सामने नजर की, तो उसे ज्ञेयाकार ज्ञान कहते हैं। ज्ञेय के संग वाला ज्ञान अर्थात् अज्ञान। ज्ञान मतलब? ज्ञेय के संग वाला जो ज्ञान प्रगट होता है, भावेन्द्रिय वह अज्ञान है। उस ज्ञेयाकार ज्ञान का जब आविर्भाव होता है, तब यह(पदार्थ) जानने में आता है तब भगवान आत्मा जानने में नहीं आता, तो सामान्य ज्ञान का तिरोभाव होता है। अनंतकाल से यह विपरीत धंधा करता है। अनंत-अनंतकाल बीता, आहाहा! पर को जानने की रुचि पड़ी है कि मैं पर को जाननेवाला हूँ। श्रद्धा विपरीत है! आहाहा! 'रुचि अनुयायी वीर्य' श्रद्धा मानती है कि मैं पर को जाननेवाला हूँ, तो उपयोग बाहर ही भटकता है, उपयोग अभिमुख होता नहीं। क्यों सम्यग्दर्शन होता नहीं है? ऐसा प्रश्न उठता है। कहाँ से हो? जो ज्ञेय है उसे तूने ज्ञान माना। और जो आत्मा है उसे तू जानता नहीं। उसे तो छोड़ दिया। और ऐसे, ऐसे, ऐसे (बाहर का) चौबीसों घंटे जानता रहता है। आहाहा!

कहते हैं कि **अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खंड खंड ग्रहण करती हैं',** अर्थात् ज्ञान खंड-खंड दिखाई देता है। ज्ञान अखंड है। ज्ञेय के संग से ज्ञान खंड(खंड) है- ऐसा उसे भासित होता है। आहाहा! ज्ञान एकाकार है, ज्ञेय अनेक हैं। तो अनेक ज्ञेयों के संग से ज्ञान भी अनेकाकार लगता है। है एकाकार ज्ञान। एकाकार ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञान है। अनेकाकार ज्ञान वह इन्द्रियज्ञान है, उसका निषेध कर। आहाहा! ज्ञेयाकार ज्ञान का आविर्भाव करता है, यह जानने में आता है, यह जानने में आता है, यह जानने में आता है, ऐसा करके उसका जो सामान्यज्ञान है, उसे तिरोभूत करता है इसलिए आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। अज्ञान प्रगट होता है, ज्ञेय के संग से। आहाहा! ज्ञेयलुब्ध है, ज्ञेय में आसक्त है। ज्ञेय को जानने की अभिलाषा करता है चौबीसों घंटे।

जैसे सब्जी का दृष्टांत दिया, कि अनेक प्रकार की सब्जी हों, उनमें नमक डालने में आये तो यह सब्जी खारी है, यह सब्जी खारी है। सब्जी खारी है या नमक खारा (है)? नमक को सब्जी से भिन्न करके स्वाद नहीं लेता है। सब्जी द्वारा भी नमक का स्वाद लेता है। लौकी में डाला हो, करेले में डाला हो, तो भी वह नमक का स्वाद लेता है, सभी जीव। लेकिन उसे ऐसा लगता है कि इस सब्जी का मैं स्वाद लेता हूँ, सब्जी खारी है। सब्जी खारी नहीं है, नमक खारा है। लेकिन वह नमक को उसके संग से देखता है, पर उसका व्यवच्छेद करके नमक को, अकेले नमक को देखे तो नमक खारा है, सब्जी खारी नहीं है।

ऐसे ही ज्ञान को परज्ञेय से जानता है इसलिए मुझे यह जानने में आता है, उस ज्ञेय का संबंध

छोड़कर यह ऐसा कहे (कि) मुझे पर जानने में नहीं आता, जाननहार जानने में आता है। उस समय ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव होकर सामान्य ज्ञान का आविर्भाव होगा और परमात्मा के दर्शन होते हैं। आत्मा के अनुभव के बिना कोई क्रिया चाहे जितनी लाख, करोड़ क्रिया करे, (तो उससे) शुभभाव होता है। स्वर्ग में दुःखी होने के लिये जाये। दुःखी होने के लिये (जाये), स्वर्ग में कोई सुख नहीं है। स्वर्ग के क्षेत्र में सुख है या आत्मा के क्षेत्र में सुख है? स्वर्ग में जायें तो ठीक, स्वर्ग में जायें तो (ठीक)। आहाहा!

अरे! अरे! परक्षेत्र की भावना करता है, स्वक्षेत्र को भूल जाता है। स्वक्षेत्र में परक्षेत्र की नास्ति है। वहाँ जायेगा तो भी स्वर्ग के क्षेत्र की इस क्षेत्र में नास्ति (है)। अभी यहाँ है तब इस क्षेत्र की भी (नास्ति है)। द्रव्य में भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की स्वचतुष्टय में तद्दन नास्ति है। आहाहा! उसकी बात तो दूर रहो लेकिन यहाँ तो अंदर भावेन्द्रिय जो प्रगट होती है उसे जीतने की बात है। वह इन्द्रियज्ञान द्वारा जीता जा रहा है, अज्ञान हो गया है। अब इन्द्रियज्ञान को छेदो तो आत्मज्ञान हो। आहाहा! दो प्रकार हैं। एक राग को जीतने का और एक इन्द्रियज्ञान को जीतने का। इन्द्रियज्ञान को जीतने से मोह पर जीत हो जाती है।

इन्द्रियज्ञान से ही मोह की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियज्ञान से ही ममता प्रगट होती है। इन्द्रियज्ञान को जीतकर जहाँ आत्मा का भान हुआ, वहाँ मोह का क्षय हो जाता है। आहाहा! थोड़ा राग रहता है, वह बाद में स्वरूप में लीन होने पर क्षय को प्राप्त होता है। भावेन्द्रिय **'अपने अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खंड खंड ग्रहण करती हैं '** अर्थात् **'(ज्ञान को खंडखंडरूप बतलाती हैं),'** ज्ञेय के संग वाला जो ज्ञान है वह खंडज्ञान है, अखंडज्ञान नहीं है। **'ऐसी भावेन्द्रियों को,'**, ऐसी भावेन्द्रियों को, पाँच इन्द्रिय को, उघाड़ को **'प्रतीति में आनेवाली'** श्रद्धा में आनेवाली, आहाहा! देखा! श्रद्धा में आत्मा आता है अभी इस काल में, श्रद्धा का विषय है आत्मा इसलिए आत्मा की श्रद्धा होती है। श्रद्धा का विषय विद्यमान है, इसलिए श्रद्धा प्रगट (होती है)। श्रद्धा का विषय विद्यमान न हो तो किसी को सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता।

अभी सोनगढ़ गया था मैं, वहाँ एक भाई ने प्रश्न किया, मुमुक्षु भाई ने। कि यह एक भक्ति के, तात्विक वहाँ गए होंगे भजन में, केसेट तो आजकल एकदम चलती है न? इस भजन में कहते हैं कि श्रेणी मांडेंगे कि मांडी, मांडेंगे कि मांडी, श्रेणी आएगी, वे श्रेणी की बात क्यों करते हैं? वह श्रेणी तो अभी है नहीं। बराबर है। श्रेणी अभी नहीं है, बात सही है। लेकिन श्रेणी का कारण आचार्य भगवान के हाथ में आ गया है। आचार्य भगवान को श्रेणी का कारण हाथ में आ गया है, इसलिए श्रेणी आयेगी, आयेगी और आयेगी। फिर दृष्टांत दिया उसका। अब उसका दृष्टांत दें तब समझ में आए ना?

श्रेणी का कारण क्या है वह भी पता नहीं है। आहाहा! कि देख भाई! सम्यग्दर्शन नहीं प्रगट हुआ, कोई बात नहीं। सम्यग्दर्शन तो होने के काल में होगा, उसकी कोई चिंता नहीं। लेकिन सम्यग्दर्शन का विषय विद्यमान है या नहीं? वह सम्यग्दर्शन का विषय जिसको ख्याल में आ गया, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता होता और होता ही है। ऐसे ही श्रेणी किसको कहते हैं उसका ज्ञान हो जाता है। श्रेणी आती नहीं है। श्रेणी का कारण आ जाता है यहाँ (अंदर में)। श्रेणी कैसे प्रगट होती है? श्रेणी होने के पहले ही श्रेणी का ज्ञान हो जाता है। श्रेणी तो उसके काल में (आयेगी) लेकिन कारण का सेवन

करने पर श्रेणी आती आती और आती ही है।

पाँच गाथा हैं परमार्थ प्रतिक्रमण की, नियमसार में। उन्हें 'रतन' ऐसी उपमा दी है। पूरे नियमसार में कहीं भी 'रत्न' शब्द प्रयोग नहीं किया है। तब आत्मा स्वयं.., कुंदकुंद भगवान कहते हैं कि मैं अपनी भावना के लिये इस शास्त्र की रचना करता हूँ। वे कहते हैं कि मैं ये चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान, यह शुद्धोपयोग प्रगट होता है न मुझे, शुद्धोपयोग मुझे प्रगट होता है, हों! और आनंद भी प्रगट है। लेकिन उस शुद्धोपयोग का मैं कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, कारण नहीं और अनुमोदक नहीं। लेकिन प्रभु! कर्ताबुद्धि तो चौथे गुणस्थान में गई और (आप) अभी भी '(मैं) परिणाम का कर्ता नहीं हूँ'- ऐसा किसलिये कहते हो? कि वह जो कर्ता का उपचार आता है मेरे ऊपर, वह मुझे खटकता है। इसलिए अभी से मैं निषेध करता हूँ, तो शीघ्र ही मुझे श्रेणी आ जायेगी और मोक्ष हो जायेगा। अभी से मैं निषेध करता जाता हूँ। आहाहा! और दूसरों को मैं सिखाता हूँ कि देखो, इस प्रकार से श्रेणी आती है।

सम्यग्दर्शन तो साधारण है। श्रेणी में तो अनंत पुरुषार्थ है। चारित्र, आहाहा! भले अभी श्रेणी नहीं आयी लेकिन श्रेणी का कारण हमारे पास आ गया है। कि उपचार से जो निर्मल पर्याय का आत्मा कर्ता है, ऐसा जो हमारे ऊपर आक्षेप आता है, आरोप आता है, उपचार आता है, वह हमें खटकता है। आहाहा! क्योंकि हम तो अकारक, अवेदक हैं। और हम अपने को कहें कर्ता, वह खटकता है इसलिए हमें कर्ताबुद्धि तो गई थी लेकिन कर्ता के उपचार (का) अभी निषेध करते हैं। अल्पकाल में श्रेणी आयेगी। कारण जिसके हाथ में आया और कारण का सेवन करे, तो कार्य होता होता और होता ही है।

ऐसे सम्यग्दर्शन भले नहीं हो लेकिन सम्यग्दर्शन के कारण का जो सेवन करता है यथार्थरूप से, उसे सम्यग्दर्शन होता होता और होता ही है। आहाहा! कारण की विपरीतता हो तो सम्यग्दर्शन (नहीं होता)। जीवतत्त्व का जैसा स्वरूप है वैसा न जानकर यदि अन्यथा जानेगा तो बड़ी नींव की भूल है। जीव की भूल (है) तो नवतत्त्व की भूल (है) और जीव का यथार्थ भान और ज्ञान हुआ तो नवतत्त्व भी सच्चे हैं।

इस प्रकार यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार आत्मा की बात तो सुन। कि यह इन्द्रियज्ञान, वह तेरा परिणाम नहीं है। वह ज्ञेय के संग से होता है इसलिए वह ज्ञेय है। हेयरूप ज्ञेय है। आहाहा! उससे तो भेदज्ञान करना है। उससे अधिक अर्थात् भिन्न आत्मा है। जो जानने की क्रिया होती है ना इन्द्रियज्ञान में, उससे आत्मा भिन्न- अधिक, अधिक अर्थात् अलग। ऐसे आत्मा को तू जान। वही कहते हैं अब।

'**ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में**', आहाहा! श्रद्धा में, उस श्रद्धा के विषय को विकल्प में तो श्रद्धा में स्थापित कर। तेरी विकल्प की भूमिका में भावमन द्वारा भी श्रद्धा प्रगट होने से पहले, श्रद्धा के विषय को स्थापित कर दे ना, श्रद्धा आ गई समझो। श्रद्धा आ गई समझो। चक्कर लगा रही है, थोड़ी ही देर में श्रद्धा प्रगट होती है। श्रद्धा का विषय जिसको हाथ में आया, उसे सम्यग्दर्शन हुये बिना रहता नहीं। उसके विषय की भूल है इसलिए सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। ध्येय की भूल है इसलिए ध्यान प्रगट नहीं होता। ध्येय की भूल है इसलिए धर्मध्यान प्रगट नहीं होता। जिसे ध्येय लक्ष्य में आ गया यथार्थ रूप से, सर्वज्ञ भगवान ने कहा, वीतराग देवाधिदेव ने कहा, संतों ने अनुभव करके कहा कि यह धर्मध्यान का और यह शुक्लध्यान का विषय है। उसे विषय हाथ में आने पर थोड़े ही काल में 'चिरम्

अचिरम्' आहाहा! ज्यादा से ज़्यादा छह महीने में सम्यग्दर्शन होता है। ज़्यादा से ज़्यादा, यदि हाथ में जीव तत्व आए तो। लेकिन (यदि) जीव की अन्यथा प्रतीति हो तो लाख और करोड़ उपाय करे (तो भी) सम्यग्दर्शन और अनुभव नहीं होता। ध्येय की भूल से ध्यान की भूल है।

ध्यान तो सब करने बैठते हैं लेकिन ध्येय क्या है उसकी कुछ खबर नहीं होती है। आहाहा! ध्येय किसको कहते हैं? आत्मा का स्वरूप क्या है? कि राग को करे वह आत्मा, कर्म को बांधे वह आत्मा, कर्म के बंधवाला आत्मा, देह के संयोगवाला आत्मा, आहाहा! पर को जाने वह आत्मा, राग को करे वह आत्मा, दुःख को भोगे वह (आत्मा)। ये आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। आत्मा ने अनादि-अनंत आज तक दुःख को भोगा नहीं है। वह आत्म तत्व है। अकारक और अवेदक है। सामान्य तत्त्व दुःख को भोगता नहीं। (जो) भोगता है वह दूसरा, जानता है वह भिन्न। आहाहा! जीवतत्त्व की भूल से भूल रह गई। आहाहा!

प्रथम में प्रथम तू जीव को जान। आता है न? रात को आया था न? आहाहा! उस जीवराजा को तू पहले जान। नवतत्त्व को जानने से पंडित होता है और जीव को जानने से ज्ञानी होता है। आहाहा! लेकिन उसकी बुद्धि बाहर में रुकी है। इसे जानता हूँ, इसे जानता हूँ, इसे जानता हूँ, इसे जानता हूँ। खंड खंड भावेन्द्रिय प्रगट होती है और आत्मा का अहित होता है। अतीन्द्रियज्ञान का घात करता है। जैसे वीतरागभाव का घात राग से होता है, उसीप्रकार भावेन्द्रिय अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रगट होने देता नहीं है। उसमें अहमपना किया है, उघाड़ में अहमपना। आहाहा! थोड़े श्लोक आ गये, थोड़ी संस्कृत आ गई, थोड़ी गाथा मुखाग्र (हो गई) और थोड़ा वाचाल हो गया। आहाहा! उसमें काम नहीं होगा। आहाहा!

'प्रतीति में आनेवाली', श्रद्धा में आनेवाली, विश्वास में आनेवाली **'अखंड',** वह खंडज्ञान था न। इन्द्रियज्ञान को खंडज्ञान कहा था, उसके प्रतिपक्ष में अखंड। खंडज्ञान, उसके प्रतिपक्ष में अखंड, भेद के प्रतिपक्ष में अभेद। **'अखंड एक',** वे पाँच इन्द्रियाँ थी, उसके प्रतिपक्ष में एक आत्मा (लिखा)। आत्मा एक है। इन्द्रियाँ पाँच हैं और आत्मा (एक है), आहाहा! अरे! शुद्धात्मा को इन्द्रियज्ञान अड़ता नहीं है। राग तो अड़ता नहीं किंतु इन्द्रियज्ञान भी, भगवान-आत्मा को स्पर्श करता नहीं। आहाहा! बाहर लोटता है वह इन्द्रियज्ञान। अंदर में प्रवेश नहीं होता। शुद्धात्मा में प्रवेश नहीं है। आहाहा! बाहर में है। बाहर में तो सब है। छह द्रव्य हैं, लोकालोक है, कौन ना बोलता है? हैं। लेकिन उसकी अस्ति किन्तु मेरे में (नास्ति)। भावेन्द्रिय की अस्ति किन्तु मेरे में (नास्ति है)। ऐसी मेरी अस्ति। उसका अनुभव हो, तो मस्ती होती है।

'अखंड एक चैतन्यशक्तिता के द्वारा अर्थात् उसके अवलंबन द्वारा जो एक अखंड शुद्धात्मा अंदर विराजमान है, भावेन्द्रिय से भिन्न, उघाड़ से भिन्न.., वर्तमान जो उघाड़ है न आँख का, कान का, उससे आत्मा भिन्न है। आहाहा! उस उघाड़ से, भावेन्द्रिय से आत्मा अनुभव में नहीं आता। उससे भिन्न स्वयं का जो अखंड चैतन्यप्रकाश का जो पुंज है, उसका अवलंबन लेने पर एक नया जात्यांतरज्ञान प्रगट होता है, अतीन्द्रियज्ञान। जाति अलग, इन्द्रियज्ञान से जाति अलग है। इन्द्रियज्ञान कर्मचेतना है। नया ज्ञान प्रगट होता है उसमें आत्मा का अनुभव होता है, उसे ज्ञानचेतना कहने में आता है। आहाहा!

'अखंड एक चैतन्यशक्तिता के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना;' यह इन्द्रियज्ञान सर्वथा भिन्न (है)? सर्वथा कहोगे तो एकांत हो जायेगा! आहाहा! इसप्रकार अज्ञानी चिल्लाता है। वह तो चिल्लाता है अनंतकाल से। आहाहा! यह तकरार तो आज की नहीं है। यह तकरार तो चलने वाली है। क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों तो रहनेवाले हैं। हें? दो तो रहेंगे। तो एक कुछ कहता है और दूसरा कुछ और कहता है। आहाहा! उन दोनों के तो विरुद्ध (मत) हैं न? दोनों का एक मत नहीं होता, दोनों के मत अलग हैं। आहाहा! तो विरोध करे तो भले करो। सर्वथा भिन्न है। (लेकिन) सर्वथा अभिन्न माना है। इन्द्रियज्ञान को ज्ञान माना है और आत्मा से अनन्य माना है। आत्मा से इन्द्रियज्ञान अन्य है, उसके बदले अनन्य माना है, सर्वथा, हों!

क्योंकि अज्ञानी के पास कथंचित् नहीं होता। क्या कहा? अज्ञानी के स्याद्वाद का जन्म नहीं हुआ है। अनुभवज्ञान में स्याद्वाद का जन्म होता है। तब आचार्य भगवान कहते हैं कि तूने सर्वथा अभिन्न माना है न, तो मैं कहता हूँ कि सर्वथा भिन्न है। कहता है, साहेब! सर्वथा भिन्न कहोगे तो फिर स्याद्वाद का क्या होगा? कि स्याद्वाद का जन्म हो जायेगा। हें? सर्वथा भिन्न में स्याद्वाद का जन्म (होगा)? हाँ। स्याद्वाद आयेगा कि नहीं? कि हाँ, अभी आयेगा। तू देख, मैं बैठा हूँ। सर्वथा भिन्न करके तू अंदर में देख, अनुभव कर, फिर अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा सर्वथा भिन्न नहीं, (किन्तु) कथंचित् भिन्न और अभिन्न- ऐसे स्याद्वाद का जन्म होगा। और इन्द्रियज्ञान तो सर्वथा भिन्न लगता है। उसमें कहीं कथंचित् लागू नहीं पड़ता। राग से कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं होता। वीतराग भाव से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न। लेकिन कब? कि सर्वथा भिन्न करे तब। सर्वथा भिन्न में द्रष्टि निर्मल होती है। उसके साथ ज्ञान प्रगट होता है वह कथंचित् को जान लेता है। कथंचित् भिन्न-अभिन्न जानता है ज्ञान। आहाहा!

श्रद्धा कथंचित् को स्वीकारती नहीं है। श्रद्धा कथंचित् को स्वीकारती नहीं और आत्मज्ञान कथंचित् को जाने बिना रहता नहीं। इसप्रकार द्रष्टि का भी दोष नहीं और ज्ञान का भी दोष नहीं। निर्दोष कथन है। सर्वथा भिन्न चमत्कारिक शब्द है। यह आपत्ति है बस, 'हे साहेब, आप सर्वथा मत कहो, नहीं तो एकांत हो जायेगा, स्वच्छंदी हो जाएंगे लोग।'

मुमुक्षु: मिथ्यात्व भाग जायेगा।

पू. लालचंदभाई: हें? मिथ्यात्व भाग जायेगा। भले (आदमी) लाभ होगा! यह कोई सोनगढ़ के संत ने शब्द नहीं लिखा, शब्द। यह तो २००० वर्ष पहले मुनिराज का कथन है। सर्वथा शब्द संस्कृत में है। है कि नहीं संस्कृत में? देख लो न। आहाहा! ये पंडित बैठे हैं। संस्कृत में है कि नहीं 'सर्वथा' भैया? है? है। लो! है सर्वथा शब्द।

अरे प्रभु! भाई! जब तक सर्वथा भिन्न का श्रद्धान नहीं होगा तब तक श्रद्धान का उदय नहीं होगा। श्रद्धान उदय होने पर ज्ञान में आत्मा का अनुभव होता है, उस ज्ञान में दो पहलू जैसे हैं वैसे, कथंचित् भिन्न-अभिन्न का उसे ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। सर्वथा भिन्न का फल कथंचित् है। सर्वथा भिन्न, उसका फल कथंचित् है। आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है, द्रष्टि में भी स्याद्वाद का अभाव है, द्रष्टि के विषय में भी स्याद्वाद का अभाव है और आत्मज्ञान में स्याद्वाद का सद्भाव है। आहाहा! अनेकांत! अनेकांत! स्याद्वाद! (ऐसे नारे लगाता है।) भई! स्याद्वाद से पहले, स्याद्वाद आत्मा में नहीं है- ऐसे आत्मा

का लक्ष्य कर तो तुझे आत्मज्ञान प्रगट होगा। वह प्रगट हुआ आत्मज्ञान, निर्मल पर्याय से आत्मा कथंचित् भिन्न और अभिन्न (है)- ऐसा ज्ञान जानेगा। श्रद्धा सर्वथा भिन्न जानेगी और ज्ञान कथंचित् भिन्न-अभिन्न जान लेगा।

श्रद्धा तो उस वक्त.... ज्ञान कहता है कि, ज्ञान श्रद्धा को (कहता है) कि कथंचित् में आ न तू। आहाहा! देख! मेरा नाम सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान बोलता है कथंचित् भिन्न-अभिन्न, तो तू भी कथंचित् भिन्न-अभिन्न ले न? तुझे क्या आपत्ति है? मैं भी सम्यग्ज्ञान और तू भी सम्यग्ज्ञान(श्रद्धा)। कि देख, यदि मैं कथंचित् अभिन्न कहूँगी तो मैं मर जाऊंगी। और मेरी मौत होगी तो तेरी भी मौत (होगी)। तो सम्यग्ज्ञान तेरा नहीं रहेगा। इसलिए तू तेरे स्थान में (रह) और मैं मेरे स्थान में। रहने दो दोनों को अपने-अपने स्थान में। दोनों का विषय जैसा है वैसा (रहने दो)। हमें मिलकर साथ रहना है। अंदर तकरार नहीं करनी है। आहाहा!

अंदर का खेल, आहाहा! ज्ञानियों की रमत (खेल) तो ज्ञानी जानते हैं। पर यह 'सर्वथा' लिखा है अंदर। यह खटकता है। 'सर्वथा' मत कहो, बस। अरे! इन्द्रियज्ञान को सर्वथा भिन्न कहा तो तेरे राग की बात तो (दूर रही)। वह तो जड़ और अचेतन प्रसिद्ध है। अंधा है। आहाहा! राग तो अंधा है। जड़-अचेतन, वह तो सर्वथा भिन्न है। यहाँ तो कहते हैं (कि) राग को जाननेवाला जो ज्ञान खड़ा होता है, दुःख को जाननेवाला ज्ञान, आहाहा! जिस ज्ञान में दुःख जानने में आता है, वह ज्ञान आत्मा से भिन्न है सर्वथा। जिस ज्ञान में आत्मा जानने में आता है, वह कथंचित् भिन्न-अभिन्न में ले। आहाहा! इस 'सर्वथा' में बड़ी आपत्ति आती है, आहाहा! अज्ञानी को। और जो निकट भव्य होता है उसे अमृत जैसा लगता है। निकट भव्य हो, उसे अमृत जैसा लगता है।

'सर्वथा अपने से भिन्न जानी; ' आहाहा! चैतन्यशक्ति अतीन्द्रिय ज्ञानमय भगवान आत्मा जो ज्ञायक है, उसका अवलंबन लेने पर अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है, उस अतीन्द्रियज्ञान ने ज्ञायक को और इन्द्रियज्ञान को अलग कर दिया। प्रज्ञाछैनी द्वारा भेदज्ञान हो गया। अतीन्द्रियज्ञान ने ज्ञायक को प्रसिद्ध किया कि यह मैं हूँ, वहाँ इन्द्रियज्ञान मेरा नहीं(ऐसी प्रतीति हो गई)। ममता छूट गई। इन्द्रियज्ञान रह जाता है और ममता छूट जाती है। इन्द्रियज्ञान का अभाव नहीं होता क्षण में। वह तो केवलज्ञान होता है तब होता है। लेकिन मेरेपने की बुद्धि छूट जाती है उसमें से। बस। उसे **'अपने से भिन्न जाना; सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।'**

दो बोल हुए, अब तीसरा बोल। भावेन्द्रिय का विषय, **'ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले संबंध की निकटता के कारण',** आहाहा! ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय-परपदार्थ। ग्राहक अर्थात् इन्द्रियज्ञान। इन्द्रियज्ञान-ग्राहक, जाननेवाला। इन्द्रियज्ञान जाननेवाला और ज्ञेय उसमें जानने में आते हैं। **'ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले संबंध की निकटता के कारण',** ज्ञेय और इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियज्ञान का जो विषय.., इन्द्रियज्ञान का विषय और ज्ञेय, दोनों की निकटता है। आत्मा से तो भिन्न है। आत्मा के साथ निकटता नहीं है ज्ञेय की या भावेन्द्रिय की, किसी की (निकटता नहीं है)। लेकिन इन्द्रियज्ञान और उसका जो विषय, उनकी निकटता के कारण **'जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसे हुए दिखाई देते हैं',** इन्द्रियज्ञान में जहाँ ऐसे रस चखा, वहाँ रस और भावेन्द्रिय मानो एकाकार

एक वस्तु है, ऐसा उसे भासित होता है। भ्रांति हो जाती है।

अति **'निकटता के कारण'** जानकर **'जो अपने संवेदन'** अर्थात् **'(अनुभव) के साथ'**। अनुभव अर्थात् ज्ञान जानने का- भावेन्द्रिय(को)। (यहाँ अनुभव का अर्थ) आनंद का वेदन नहीं। **'परस्पर एक जैसे हुए दिखाई देते हैं '**

रस-इन्द्रिय, रस-रसेंद्रिय, वे दोनों एक जैसे लगते हैं। आहाहा! यह खट्टा रस मैंने जाना। मुझे खट्टा लगता है। मुझे खट्टा लगता है, मुझे तीखा रस लगता है। मुझे मतलब कौन? कि भावेन्द्रिय में मैं-पने की बुद्धि की। आहाहा! **'एक जैसे हुए दिखाई देते हैं ऐसे, भावेन्द्रियों द्वारा',** देखो! खुलासा करते हैं। **'भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए',** अरे! भावेन्द्रिय पर को जानती हैं, हों! अतीन्द्रियज्ञान पर को नहीं जानता प्रभु! कठिन बात है। क्या करें?

शास्त्र में है सब, दस गाथा हैं पूरी। कुंदकुंद आचार्य भगवान कहते हैं कि भावेन्द्रिय पर को ग्रहण करती हैं। आहाहा! आत्मा पर को, शब्द को ग्रहण नहीं करता। दस गाथा हैं, दस। आहाहा! क्या कहा यह ? भावेन्द्रिय है, श्रोतेन्द्रिय शब्द को जानती है। आत्मा शब्द को नहीं जानता। रसेन्द्रिय खट्टे-मीठे को जानती है, आत्मा खट्टे-मीठे पदार्थ को नहीं जानता। तो स्वपरप्रकाशक का क्या होगा? कि स्वपरप्रकाशक जो अज्ञान है, उसका अस्त होगा और स्वप्रकाशक ज्ञान प्रगट हो जायेगा तुझे। नुकसान कुछ होनेवाला नहीं है। फिर स्वपरप्रकाशक? तो स्वपरप्रकाशक में क्या है? कि यह (आत्मा) स्व और ये सब पर - ऐसा नहीं है। स्वपरप्रकाशक एक निश्चय प्रगट होता है। ज्ञान वह स्व और अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हुआ वह पर। वह निश्चय स्वपरप्रकाशक प्रगट होता है उसे स्वपरप्रकाशक का व्यवहार लागू पड़ता है। बात बहुत सूक्ष्म है। इन भाई को जानने की जिज्ञासा बहुत हो गई है कि यह क्या है? आहाहा! कभी हिम्मतनगर आना। (तो) हम यह विषय, पूछना मुझे जरा, (तो) यह विषय ले लेंगे। विषय समझने जैसा है।

स्वप्रकाशक, निश्चय स्वपरप्रकाशक और व्यवहार स्वपरप्रकाशक, ये तीन ज्ञानी को हैं। और एक चौथा स्वपरप्रकाशक अज्ञानी के पास (भी) है। चौथा स्वपरप्रकाशक अज्ञानी के पास भी है। लेकिन अभी यह विषय अपना चलता है। डिपोज़िट रखना, समझने जैसा है।

'परस्पर एक जैसे हुए दिखाई देते हैं ऐसे, भावेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुए', देखो! ग्राह्य-ग्राहक का खुलासा किया है। भावेन्द्रिय है वह जाननेवाली है और सब द्रव्य जानने में आते हैं। **'ग्रहण किए हुए, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को,'** आहाहा! इन्द्रियज्ञान पर को जानता है प्रभु! हों! आहाहा! शब्द को श्रोतेन्द्रिय जानती है, चक्षुइन्द्रिय रूप को जानती है, घ्राणइन्द्रिय दुर्गंध और सुगंध को जानती है, आत्मा नहीं। आहाहा!

आत्मा तो आत्मा को जानता है। आत्मा तो आत्मा को जानता है और भावेन्द्रिय पर को जानती है। बस पूरी हो गई बात। यह सब गाथाओं में है, दस गाथा हैं इसकी समयसार में। एकदम स्पष्ट शब्द हैं। कौनसी गाथा हैं, ३७३ से ३८२ तक। लाओ ना समयसार, लाओ ना।

मुमुक्षु: यह समयसार ही है।

पू. लालचंदभाई: हाँ, यह समयसार ही है। हाँ, बराबर है। ३७३ से ३८२। आहाहा! यह

समयसार पूरा होने को आया न, तब आचार्य भगवान ने कहा, लाओ जो भी है वो मैं कह दूं। समझनेवाला कोई तो बिरला निकलेगा! भले ज़्यादा न निकलें तो कोई (बात) नहीं, थोड़े, लेकिन उनका तो काम होगा। सत्य बात कह दूं। आहाहा!

मुमुक्षु: संख्या की क्या जरूरत?

पू. लालचंदभाई: हें, संख्या की क्या जरूरत? हं..। पृष्ठ ५२६। बराबर। आ गया। आहाहा! देखो! दस गाथाएँ हैं।

पुद्गलदरब बहु भांति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे।।३७३।।
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहीं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तू क्यों करे?।।३७४।।

शुभ या अशुभ जो शब्द उस शब्द को कौन जानता है? आत्मा जानता है या इंद्रियज्ञान जानता है? आहाहा! मूल बात है। मूल बात। 'मैं शब्द को सुनता हूँ'- द्रष्टि विपरीत है। मैं शब्द को जानता भी नहीं, मैं तो जाननहार को जानता हूँ। ऐसा करके अंदर चला जा ना एकबार, थोड़ी देर के लिए तो जा। एयरकन्डीशन है अंदर।

शुभ या अशुभ जो शब्द वह 'तू सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को।।३७५।।

जीव उसे जानने नहीं जाता। अब उस गाथा का अर्थ करें हम। अर्थ।

तीसरी गाथा। **शुभ अथवा अशुभ शब्द तुझसे नहीं कहता कि 'तू मुझे सुन';** यह शब्द जो निकलता है ना, वह हमें ऐसा नहीं कहता कि, शब्द ऐसा नहीं कहता कि 'तू मुझे सुन'। एक बात। शब्द नहीं कहता कि तू मुझे सुन। एक बात, वहाँ से। अब दूसरी बात यहाँ से करते हैं। **और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), श्रोत-इन्द्रिय के विषय में आये हुये शब्द को ग्रहण करने को (-जानने को) नहीं जाता।** आहाहा! एक बार तो 'मैं नहीं जानता' इस शब्द को (श्रद्धा में) ले तो सही। तो इन्द्रियज्ञान का व्यापार बंद हो जायेगा और नया अतीन्द्रियज्ञान (प्रगट होगा)। आत्मा- जाननहार जानने में आता है, जाननहार जानने में आता है वास्तव में पर जानने में नहीं आता। पर को मैं सुनता नहीं, पर को जानता नहीं, पर को सूँघता नहीं, पर को स्पर्श करता नहीं।

जननहार जानने में आता है तब इन्द्रियज्ञान क्षणमात्र, थोड़े टाइम (के लिए) रुक जायेगा और नया ज्ञान प्रगट होगा, उसमें आत्मा का अनुभव होगा। फिर सविकल्प दशा आयेगी। तब शब्द को और शब्द को जाननेवाला इन्द्रियज्ञान- उन दोनों को ज्ञान से भिन्न जानेगा। वे ज्ञान में भिन्नपने जानने में आते रहेंगे। अब अभिन्नपने जानने में नहीं आयेंगे। एकत्व नहीं होगा, विभक्तरूप परिणमन चालू हो जायेगा। आहाहा! **अशुभ अथवा शुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहता कि 'तू मुझे सुन',** और आत्मा यहाँ से च्युत होकर वहाँ सुनने नहीं जाता। कहाँ अवकाश है कि शब्द सुनने जाये? स्वयं अपने को जानने में रुके या उसे जानने जाये? यदि यहाँ से छूटकर वहाँ जानने गया तो लक्ष्य पलट गया।

आहाहा! आत्मा लक्ष्य में नहीं आयेगा, आत्मा हाथ में नहीं आयेगा। ऐसी ये दस गाथा हैं, ऊंचे में ऊंची। सब कुछ शास्त्र में (भरा है)। समयसार तो समयसार है। 'न भूतो न भविष्यति' ऐसी टीका है, गुरुदेव फरमाते थे।

लेकिन पक्ष पड़ गया है, एक कर्ताबुद्धि (का) और एक पर की ज्ञाताबुद्धि (का)। पर की ज्ञाताबुद्धि पड़ी है न इसलिए इन्द्रियज्ञान पर को जानने जाता है। इन्द्रियज्ञान ही उत्पन्न होता है। क्योंकि मैं पर को जाननेवाला हूँ, पर को जाननेवाला हूँ, पर को जाननेवाला हूँ, आहाहा! जाननहार जानने में आता है, जाननहार जानने में आता है, वह भूल गया। मैं ज्ञाता हूँ- वह भूल गया और 'कर्ता हूँ'- ऐसा आ गया। कर्ता के पक्ष में पड़ा है। कोई कर्ता के पक्ष में और कोई ज्ञाता के पक्ष में पड़े हुए जीव आत्मा की उपलब्धि नहीं कर सकते। आहाहा! ऐसा है, बालचंदभाई!

उनको **'अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता',** देखो! पर को जो जानता है उसमें इन्द्रियज्ञान पर का संग करता है। वह संग कैसे छूटे? पर का संग कैसे छूटे? व्यभिचार कैसे छूटे? पर के संगवाले परिणाम को परमात्मा व्यभिचार कहते हैं। आहाहा! कठिन शब्द हैं, लेकिन करुणा के हैं। करुणा आ गई है.., उनको करुणा आ गई है। अरे! पर का लक्ष्य छोड़ दे। तुझे कुछ हाथ में नहीं आयेगा। स्व का लक्ष्य कर तो सब हाथ में आयेगा। अब उसे कैसे.., पर पदार्थों को जानना कैसे बंद हो? कि असंग ऐसा आत्मा है। जो परिणाम पर का संग करते हैं वे परिणाम तेरे नहीं हैं। तू तो असंगी परमात्मा है। असंगी को भावेन्द्रियों का संग नहीं है, द्रव्येन्द्रियों का संग नहीं है, असंगी को परपदार्थ का भी संग नहीं है। संग करने जायेगा तो दुःखी होगा। आहाहा!

संग छोड़ दे, मैं तो असंग हूँ। परमात्मा हूँ, मुझे किसी का संग (नहीं है), मेरा किसी के साथ संबंध ही नहीं है न। कर्ता-कर्म संबंध नहीं, निमित्त-नैमित्तिक (संबंध) नहीं और ज्ञाता-ज्ञेय (संबंध) भी नहीं है। और ज्ञाता-ज्ञेय का भेद भी यहाँ दिखता नहीं है। अभेद में भेद नहीं दिखता, उसका नाम अनुभूति कहने में आता है। **'असंगता के द्वारा'** , आहाहा! असंग का एक बोल आता है, श्रीमद् में भी एक बोल आता है, असंग है परमार्थ से, हों! असंग है परमार्थ से..। यह परमार्थ की बात चलती है। आहाहा! संग छुड़ाना है। पर का संग छुड़ाकर, असंग ऐसे असंगी आत्मा का संग कर। असंगी ऐसे परमात्मा का संग कर तो परिणाम पवित्र हो जायेंगे। संवर-निर्जरा प्रगट होगी। **'असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया;'** तीनों में 'सर्वथा' शब्द लगाया। आहाहा! **सो यह इंद्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। 'इसप्रकार जो (मुनि) द्रव्यन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को' '(तीनों को) जीतकर, ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था'** खिचड़ी (मिला-जुला), एकत्व **'सो सब दूर होने से एकत्व में'** अर्थात् एकपने में, एकत्व अर्थात् एकपने में। आत्मा एक है। **'एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्यद्रव्यों से परमार्थ से भिन्न'** , आहाहा! अन्यद्रव्यों से अर्थात् द्रव्यन्द्रियां, भावेइन्द्रियां और भावेन्द्रियों के विषय- (ये) तीनों अन्यद्रव्य में जाते हैं। **'परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करता है',** आहाहा! अनुभव करता है प्रत्यक्ष। **'वह निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है।'** उसने मोह को जीत लिया। इन्द्रियज्ञान को जीतते ही मिथ्यात्व पर जीत हो जाती है। मिथ्यात्व का उत्पाद नहीं होता। उसे 'जितेन्द्रिय जिन' कहा।

चौथे गुणस्थान में जिन है। सर्वज्ञ का लघुनंदन है! 'जितेन्द्रिय जिन' आहाहा! मेंढक, हिरण भी 'जितेन्द्रिय जिन' होता है। आहाहा! हाथी, घोडा, किसी भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को अनुभव हो सकता है। **'जितेन्द्रिय जिन है। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।)' 'कैसा है यह ज्ञानस्वभाव?'** आहाहा! कैसा है यह ज्ञानस्वभाव? **'इस विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ',** ऊपर तिरता हुआ अर्थात् **'(उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ),'** विश्व ज्ञान में ज्ञेय होता है लेकिन आत्मा विश्वरूप नहीं होता। आत्मा ज्ञेयरूप नहीं होता है, ज्ञान छूटता नहीं है, ज्ञेय भिन्न और ज्ञान भिन्न ही रहता है।

'प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतः सिद्ध और परमार्थसत्---ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।।३१।।' उसका लक्ष्य करके उसका श्रद्धान, उसका अनुभव कर तो संसार का अंत आयेगा और अल्पकाल में पूर्णानंद की प्राप्ति उसे होती है। बोलो! परम उपकारी पूज्य सदगुरुदेव की जय हो!